Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 GISRRJ | Volume 2 | Issue 1 | ISSN : 2582-0095

संस्कृत भाषा में सामाजिक न्याय

डॉ. लीना सक्करवाल
(सहायकाचार्या)
शिक्षाशास्त्रीविभाग
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
(मानित विश्वविद्यालय),
जयपुर परिसर, जयपुर।

शोध आलेख सार – सामाजिक न्याय की संकल्पना बहुत व्यापक शब्द है जिसके अन्तर्गत सामान्य हित के मानक से सम्बन्धित सब कुछ आ जाता है जो अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा से लेकर निर्धनता और निरक्षरता के मूल तक सब कुछ इंगित करता है। यह न केवल विधि के समक्ष समानता के सिद्धान्त का पालन करने और न्यायपालिका की स्वतंत्रता से सम्बन्धित है। इसका सम्बन्ध उन निहित स्वार्थों को समाप्त करने से है जो लोकहित को सिद्ध करने के मार्ग में और यथास्थिति बनाये रखने के पक्ष में है। सामाजिक न्याय की संकल्पना का सजीव चित्रण हमारे प्राचीन शास्त्रों व ग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है जहाँ सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः[1] को चरितार्थ करने के अनेकों उदाहरण प्राप्त होते है। प्रस्तुत शोध पत्र में संस्कृतवाङ्मय के विभिन्न ग्रन्थों में सामाजिक न्याय सङ्कल्पना की विभिन्न मन्त्रों, श्लोकों तथा वचनों से पुष्टि की गयी है और वर्तमान परिप्रेक्ष्य में उनकी प्रासङ्गिकता तथा उपादेयता को भी स्पष्ट किया गया है।

मुख्य शब्द– न्याय, स्वतंत्रता, सङ्कल्पना, संस्कृतवाङ्मय, परिप्रेक्ष्य, लोकहित, न्यायपालिका।

विश्व में आज मनुष्य जहाँ भी है वहाँ वह सभ्यता के विभिन्न स्तर पर अपना जीवन जी रहा है। निश्चय ही उसके जीवन का यह स्तर सदा से ही नहीं है, इस स्तर पर पहुँचने में उसे लम्बा समय लगा है। और क्रम पार करने पड़े है। वैज्ञानिकों का मत है कि प्रारम्भ में मनुष्य भी जंगली जानवरों की तरह जंगल में ही रहता था। इस असभ्यतावस्था में मनुष्य के जीवन में न कोई संगठन था और न कोई संस्था। किन्तु विधाता ने मनुष्य की रचना बुद्धि सम्पन्न प्राणी के रूप में की है, इसलिये, जहाँ जानवर आज भी जंगली अवस्था में ही अपना जीवन जी रहे हैं, मनुष्य ने धीरे–धीरे प्रगति करते हुये

अपने जीवन में गुणात्मक परिवर्तन कर लिया है। मनुष्य में संघ बनाकर रहने का सहज संस्कार है जिसके कारण उसने अपने लिए समाज बनाया है।

समाज मानवीय अन्तःक्रियाओं के प्रक्रम की एक प्रणाली है। मानवीय क्रियाएं चेतन और अचेतन दोनों स्थितियों में साभिप्राय होती है। व्यक्ति का व्यवहार कुछ निश्चित लक्ष्यों की पूर्ति के प्रयास की अभिव्यक्ति है। उसकी कुछ नैसर्गिक तथा अर्जित आवश्यकताएँ होती है – काम, क्षुधा, सुरक्षा आदि। इनकी पूर्ति के अभाव में व्यक्ति में कुंठा और मानसिक तनाव व्याप्त हो जाता है। वह इनकी पूर्ति स्वयं करने में सक्षम नहीं होता है। अतः इन आवश्यकताओं की सम्यक् संतुष्टि के लिए अपने दीर्घविकासक्रम में मनुष्य ने एक समष्टिगत व्यवस्था को विकसित किया है। इस व्यवस्था को ही हम समाज के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह और विशिष्ट व्यवहार द्वारा एक दूसरे से बंधे होते है। व्यक्तियों की वह संगठित व्यवस्था विभिन्न कार्यों के लिए विभिन्न मानदण्डों को विकसित करती है। जिनके कुछ व्यवहार अनुमत और कुछ निषिद्ध होते है।

सामाजिक न्याय की संकल्पना बहुत व्यापक शब्द है जिसके अन्तर्गत सामान्य हित के मानक से सम्बन्धित सब कुछ आ जाता है जो अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा से लेकर निर्धनता और निरक्षरता के मूल तक सब कुछ इंगित करता है। यह न केवल विधि के समक्ष समानता के सिद्धान्ता का पालन करने और न्यायपालिका की स्वतंत्रता से सम्बन्धित है। इसका सम्बन्ध उन निहित स्वार्थों को समाप्त करने से है जो लोकहित को सिद्ध करने के मार्ग में और यथास्थिति बनाये रखने के पक्ष में है।

सामाजिक न्याय की संकल्पना का सजीव चित्रण हमारे प्राचीन शास्त्रों व ग्रन्थों में प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है जहाँ **सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः** को चरितार्थ करने के अनेकों उदाहरण प्राप्त होते है।

वैदिककालीन समाज में सामाजिक न्याय के अनेकों उदाहरण प्राप्त होते है। जैसे वैदिक समाज शथपथ ब्राह्मण में सूक्ति रूप में स्पष्ट दिखाई पड़ती है **"स्त्री वैषा यच्छ्रीः"।[2] ऋग्वेद में विश्ववारा, घोषा, लोपामुद्रा, वागाम्भरणी जैसी विदुषी स्त्रियों के नाम आते हैं**[3]जिन्हें सूक्तों का दर्शन करने वाली, ऋषि कहा गया है। और इसमें आश्चर्य की बात भी नहीं है, क्योंकि **अथर्ववेद स्पष्ट रूप से बात का निर्देश करता है कि उस समय में ब्रह्मचर्य** का पालन करते हुए शिक्षाप्राप्त करना स्त्रियों के लिए भी एक सामान्य बात थी।

इतनी ही नहीं, गार्गी और मैत्रेयी के उल्लेख यह स्पष्ट करते हैं कि विदुषी स्त्रियों विद्वद्गोष्ठियों में भाग लेती थी और आध्यात्मिक ज्ञान के प्रति भी पुरुषों की तरह ही रूचि रखती थी। स्त्री को पुरूष की अर्धांगिनी तथा सहधर्मचारिणी माना जाता था।

सामाजिक न्याय की संकल्पना में **धर्मसूत्रकालीन राज्यों का स्वरूप स्पष्ट निर्दिष्ट करता हैं** कि उस न्याय हेतु बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातों का वर्णन हमारे धर्मसूत्रों में उल्लिखित था जैसे गौतमधर्मसूत्र स्पष्ट रूप से कहता है कि शत्रु के आक्रमण की आंशका होने पर विजय–प्राप्ति के उपाय करना राजा का कर्त्तव्य है। **आपस्तम्ब धर्मसूत्र कहता है[4],राजा नगरों और ग्रामों में प्रजा की संपत्ति की रक्षा के लिये (रक्षा) अधिकारियों को नियुक्त करे नगर के चारों ओर एक योजन तक और ग्रामों में एक कोस तक यदि किसी का चोरी हो जाये तो ये अधिकारी उत्तरदायी हो। विष्णुधर्मसूत्र कहता है[5], जिस राजा के पुर में चोर नहीं है––––––– व इन्द्रलोक का अधिकारी है। प्रजा की रक्षा करना या पालन करना, प्रायः सभी धर्मसूत्र, राजा का कर्त्तव्य मानते हैं।**

धर्मसूत्रों के काल में भी राज्य से यह अपेक्षा की जाती थी कि वह समाज के दुर्बल वर्गों के हितों का संरक्षण करें और शिक्षितों के योग–क्षेम की व्यवस्था करें। गौतमधर्मसूत्र कहता है[6], राजा को अप्राप्त–व्यवहारों (नाबालिगों) के धन की, उनके व्यवहारप्राप्ति (बालिग करने तक) पर्यन्त रक्षा करनी चाहिए। **विष्णुधर्मसूत्र के अनुसार[7], बच्चों अनाथों और स्त्रियों के धन की रक्षा राजा को करनी चाहिये।** यह धर्मसूत्र यह भी अपेक्षा करता है कि उसके राज्य में कोई भी विद्वान् पीड़ित न हो। यह धर्मसूत्र आदर्श राजा से अपेक्षा करता है कि वह अपनी प्रजा के सुख में सुखी तथा दुःख में दुःखी अनुभव करें। इस दृष्टि से, धर्मसूत्रकारों की राज्य की सामाजिक न्याय से परिपूर्ण की परिकल्पना एक कल्याण राज्य के रूप में परिलक्षित होती है।

सामाजिक न्याय की संकल्पना के अन्तर्गत पति–पत्नी धर्म, नपुंसकता, विवाह–नियोग व तलाक आदि विषयों का भी उल्लेख शास्त्रों व ग्रन्थों में प्राप्त होता है। **मनुस्मृति में पति–पत्नी धर्म की परिभाषा देते हुये मनु कहते है कि स्त्री–पुरूष के विवाह सम्बन्धी व अन्य पारस्परिक सम्बन्धों के वैधानिक नियम ही पति–पत्नी धर्म के अन्तर्गत आते हैं।** कन्या की स्पष्ट एवं स्वतन्त्र स्वीकृति के पश्चात् ही व विवाह की मान्यता देते हैं। आगे वे सवर्णी विवाह की श्रेष्ठता बताते हुए ब्राह्मण, क्षत्रिय व वैश्य को क्रमशः अपने से निम्नवर्णी कन्या से भी विवाह करने की अनुमति दे देते हैं।

''ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परिग्रहेः

सजातिः श्रेयसी भार्या सजातिश्च पतिः स्त्रियः।।'' (मनुस्मृति)[8]

धर्मशास्त्रकारों के अनुसार होम एवं सप्तपदी के पश्चात् विवाह सम्बन्ध अटूट हो जाता है केवल विशेष परिस्थितियों में पति द्वारा पत्नी के व पत्नी द्वारा पति के परित्याग को मान्यता दी गई है लेकिन वह भी विवाह विच्छेद के रूप में नही। मनु के अनुसार पति–पत्नी की पारस्परिक निष्ठा आमरण होनी चाहिए यही परम धर्म है। पति या पत्नी के पतित होने पर भी विवाह संस्कार की समाप्ति नहीं हो सकती है। अपनी नापसंद के संस्कार की समाप्ति नहीं हो सकती है। अपनी नापसंद

के कारण पति–पत्नी का एक दूसरे को त्याग देना पाप था, लेकिन यत्नपूर्वक सुरक्षित स्त्री के व्यभिचारिणी होने पर त्याग हो सकता था। कौटिल्य ने इस सम्बन्ध में कुछ नये नियम दिये है। उनके अनुसार परस्पर द्वेष होने पर भी परित्याग हो सकता था। परित्याग होने पर स्त्री से प्राप्त स्त्रीधन पुरूष को लौटाना पड़ता था किन्तु पुरूष के उपकार के कारण उसका त्याग करने वाली पत्नी को अपनी ओर से दिया गया धन लेने का अधिकार नहीं था।

पैतृकसम्पत्ति के आधार पर भी सामाजिक न्याय की व्यवस्था हमारे ग्रन्थों में परिलक्षित होती है। माता–पिता की मृत्यु के पश्चात् पुत्र पिता के समस्त धन को बराबर–बराबर बांट लेते थे। लड़कियों को पिता की सम्पत्ति से कुछ भी प्राप्त नहीं होता था। परन्तु मनु के अनुसार प्रत्येक भाई अपने भाग का 1/4 भाग अपनी बहन को देता था। पुत्र न होने की स्थिति में पुत्री पिता की सम्पत्ति की अधिकारिणी मानी जाती थी। और उसका स्थान वैद्य पुत्र के समकक्ष माना जाता था क्योंकि पुत्र के अभाव में पुत्री का पुत्र ही पिण्ड दानकर नाना को स्वर्ग की प्राप्ति करा सकता था ऐसी धारणा थी।

सामाजिक न्याय की सङ्कल्पना मेंभारतीय समाज में वर्ण को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। वर्ण व्यवस्था तथा आश्रम व्यवस्था समाज के दो प्रमुख अंग माने गये है। जिस प्रकार सिर, हाथ, उरु और पैर के होने से व्यक्ति का पूर्ण शरीर बनता है उसी प्रकार चारों वर्ण अपने कर्त्तव्यों से सुन्दर सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करते है। वेद के अनुसार वर्ण की उत्पत्ति विराट पुरुष से हुई है।

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।[9]

उरू तदस्य यद्वेश्च पदभ्यां शूद्रो अजायत।। ऋ. 10/90/12

अर्थात्/ विराट पुरूष के मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, उरु से वैश्य तथा पाद से शूद्र की उत्पत्ति हुई है। इस प्रकार स्पष्ट है कि चारों वर्णों से मिलकर समाज बनता है। कोई एक वर्ण स्वतन्त्र रूप से जी नहीं सकता। जैसे हाथ, पाव, सिर आदि शरीर के अंग शरीर से अलग नहीं किये जा सकते।

इसके अतिरिक्त आश्रम व्यवस्था हिन्दू संस्कृति का आधार स्तम्भ है। आश्रमों की व्यवस्था मानव जीवन को संयमित एवं आध्यात्मिक बनाने के लिए की गयी है, जिसके अन्तर्गत मनुष्य अपना सामाजिक तथा आध्यात्मिक विकास कर सके। मनुस्मृति में जिन आचारों का उल्लेख किया गया है केवल चारों आश्रमों के लिए ही नहीं, अपितु चारों वर्णों के लिए भी ग्राह्य है। चारों आश्रमों में ब्रह्मचर्य आश्रम प्रथम आश्रम माना गया है। यह आश्रम सम्पूर्ण विधाओं में ज्ञान प्राप्त करने वाला आश्रम है। विद्यार्थी को ब्रह्मचर्याश्रम में रहते हुए, नित्य ही कुछ नियमों का पालन करना होता है, जैसे प्रातः काल उठकर आचमन करना, स्नान करना, संध्या करना, गुरु की आज्ञा मानना तथा गुरु के लिए भिक्षा

लाना और समस्त विधाओं का अध्ययन करना। मनु द्वारा प्रतिपादित ब्रह्मचर्याश्रमियों के नित्य प्रति पालनीय ''आचार'' का प्रतिपादन करना प्रासंगिक है। मनु द्वारा प्रतिपादित ये सभी आचार पूर्णतया वैज्ञानिक है। प्रत्येक में कुछ न कुछ ऐसा लाभ छुपा है। जिसके अवगत या अनवगत होने पर भी वे लाभ ही पहुँचाते हैं। उदाहरणार्थ – विद्यार्थी के भोजन के विषय में कहा गया है कि विद्यार्थी को भिक्षा से प्राप्त अन्न से ही भोजन करना चाहिए, सूक्ष्म विचार यह है कि विद्यार्थी संयमित भोजन करें। गुरू शिष्य सम्बन्ध मं मनु ने बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कहीं है कि जब तक गुरु शिष्य सम्बन्ध सुदृढ़ नहीं हो जब तक व्यक्तित्व निर्माण नहीं और न ही राष्ट्र की उन्नति। मनुस्मृति में प्रातःकाल उठकर शौच के उपरान्त आचमन करने का विधान दिया है। आचमन करने से मानव की जटाराग्नि प्रज्वलित होती है। इसलिए इसको करने का विशेष महत्त्व आज भी है। मनुस्मृति में भोजन के विषय में अनेक स्वास्थ्य सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया गया है। जिसे आज भी चिकित्सक व्यक्ति के स्वास्थ्य हेतु उचित मानते हैं। मनुस्मृति के द्वितीय अध्याय के 56–57 पद्य में कुछ महत्त्वपूर्ण बात कही गयी है।

नोच्छिष्टं कस्याचिद् दद्यान्नघाच्चैव तथान्तर।
न चैवात्यशनं कुर्यान्त चोच्छिष्टं क्वचिद्व्रजोत्।।
अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्वपरिवर्जयत्।।[10]2/56–57

ब्रह्मचर्याश्रम के उपरान्त गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया जाता है। गृहस्थाश्रम ही चारों आश्रमों में श्रेष्ठ माना गया है तथा इसी से अन्य तीनों आश्रमों की उत्पत्ति बताई मनु ने गृहस्थ के धर्मों का विस्तृत विवेचन किया है। गृहस्थ के दैनिक कर्मों एव आचार का वर्णन भी मनुस्मृति में प्रापत होता है। मनु ने निम्नलिखित गृहस्थ के मुख्य कर्मों को उल्लेख किया है।

मेत्रं प्रसाधनं स्नानं दन्तधावनमञ्जनम्।
पूर्वाह्न एव कुर्वति देवतानां च पूजनम्।।[11] 4/152

गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश की बात कही गयी है। वानप्रस्थ का शाब्दिक अर्थ है ''वन की ओर प्रस्थान करना'' भावात्मक दृष्टि से देखा जाये तो यह वानप्रस्थी होना नहीं है। मनुष्य का मन ही वह वन होता है जिसकी ओर वह प्रस्थान करता है अर्थात् वह मन में ही एकाकार हो जाता है। इसलिए आवश्यक नहीं कि वन का आश्रय लेकर ही वानप्रस्थी बना जाये। आवश्यक यह है कि वृद्ध माता–पिता का अपने मन को वश में करना। आज अधिकार संयुक्त परिवारों के विघटन का मुख्य कारण वृद्ध माता–पिता द्वारा नयी युवा पीढ़ी को अपनी प्राचीन परम्परा अनुसार जीवन व्यतीत करने हेतु मजबूर करना। आज प्रायः वन का आश्रय नहीं लिया जाता है किन्तु माँ का कर्त्तव्य

है कि वे स्वयं को घर में ही वानप्रस्थी बनाएं। आज प्रायः वन का आश्रय नहीं लिया जाता है किन्तु माँ का कर्त्तव्य है कि वे स्वयं को घर में ही वानप्रस्थी बनाएं। अर्थात् वानप्रस्थ की अवस्था में जिन नियमों का पालन वन में रहकर करना होता है, यदि उनका पालन न भी करें तो भी पारिवारिक दायित्व से स्वयं को मुक्त कर लें तथा धर–परिवार के सदस्यों की स्वातन्त्रय में बाधक न बनें।

मनु ने जिस प्रकार ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थाश्रम के लिए नित्यप्रति आचारों का विधान किया है, उसी प्रकार सन्यासाश्रम के लिए भी प्रमुख आचारों का विधान किया गया है। जो इस प्रकार है – सर्वप्रथम मनु ने देव–ऋण, ऋषि ऋण का पूरा करके ही मन को मोक्ष प्राप्ति में स्थित होने का कहा है।

ऋणानि त्रीण्यपाकृत्स मनो मोक्षे निवेशयेत्।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः।।[12]

सन्यास आश्रम का मुख्य उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति ही होता है और मोक्षप्राप्ति के लिए अहिंसा, विषयों में अनासक्ति, वेदप्रतिपादित कर्म और कठिन तप आदि को साधन माना गया है। सन्यासी इन निमयों के पालन से ही मोक्ष को प्राप्त करता है और सांसारिक बन्धन से मुक्त हो जाता है, इसक लिए कठिन साधन करनी होती है तथा मनवाणी और शरीर पर संयम करके चिन्तन करना चाहिए। मनु का कथन है कि सब आसक्तियों को धीरे–धीरे छोड़कर ही सन्यासी ब्रह्म में लीन हो जाता है।

अनेन विधिना सर्वात्स्यक्तवा सङ्गाञ्छनैः शनैः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तो ब्रह्मण्येवावतिष्ठते।।[13] **116/89**

और इस तरह यह वर्ण व आश्रम व्यवस्था सामाजिक न्याय की सङ्कल्पना को पुष्ट करती है। क्योंकि प्रत्येक मनुष्य को अपने वर्ण तथा आश्रम अनुसार कार्य व दायित्व पूर्ण करना आ जाये तो वह सामाजिक अन्याय की स्थितियों को जन्म ही नहीं देगा। इसी प्रकार मनुस्मृति में उल्लिखित 13 संस्कार भी प्रत्येक व्यक्ति के लिये सामाजिक न्याय की सम्भावनाओं को बढ़ा देता है। संस्कार से मनुष्य को दोषों की शुद्धि होती है। मनु के अनुसार द्विजो के गर्भाधान, चूड़ाकर्म आदि संस्कारों से गर्भ उत्पन्न दोष नष्ट हो जाते है। मनु के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जन्म के समय शूद्र होता है, उपनयन से द्विज कहलाता है। वेदों के अध्ययन से विप्र और ब्रह्मा के साक्षात्कार से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

मनुस्मृति में तेरह संस्कारों का उल्लेख किया गया है, इनके नाम इस प्रकार हैं – 1. गर्भाधान 2. जातकर्म 3. नामकरण 4. निष्क्रमण 5. अन्नप्राशन 6. चूड़ाकर्म 7. उपनयन 8. वेदारम्भ 9. समावर्तन 10. विवाह 11. वानप्रस्थ 12. सन्यास 13. अन्तेष्टि

गर्भाधान संस्कार आज धार्मिक दृष्टि से नहीं तो इसका परिवर्तित रूपपरिवार नियोजन की दृष्टि से प्रासंगिक है। आज सन्तानोत्पत्ति सोच समझकर, उचित समय पर की जाती है। आज सन्तान,

आकस्मिक या अविवेचना की परिणति नहीं है। आज वर्तमान समय में पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण अन्नप्राशन आदि संस्कार सभी जगहों पर पूर्ण विधि विधान तथा कर्मकाण्ड के रूप में सम्पन्न होते कम ही दिखायी पड़ते हैं। तथापि एक संस्कार रूप में प्रायः सभी परिवारों में इनको सम्पन्न किया जाता है। समावर्तन संस्कार आज अपने मूल रूप में अप्रासंगिक हो गया है। किन्तु वह परिवर्तित रूप में आज भी प्रासंगिक है, क्योंकि समावर्तन सम्पन्न करके ही युवक गृहस्थ आश्रम का दायित्व ग्रहण करता है शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त विद्यार्थी आज गुरु से अनुभूति प्राप्त करने के स्थान विश्वविद्यालय या अपने संस्थान आदि से प्रमाण पत्र रूपी अनुमति लेकर जीविका प्राप्त करके विवाह करता है। यही उसका समावर्तन है। विवाह तो आज भी प्रासंगिक है। मनु ने आठ विवाहों का उल्लेख किया है, उसमें प्राजापत्य तथा गान्धर्व विवाह का ही वर्तमान में प्रचलन है। यही विवाह आज जन सामान्य में श्रेष्ठ माना जाता है। इसी का एक रूप कानूनी विवाह के रूप में परिवर्तित हो गया है। वर्तमान में इस विवाह का प्रचलन भी दिन–प्रतिदिन बढ़ रहा है।

मनुस्मृति में भी कहा गया है कि अपना कल्याण चाहने वाले कन्या के पिता, भाई, पति और देवर को विवाह उपरान्त भी कन्या को वस्त्राभूषणों से अलंकृत करना चाहिए।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पर्तिभर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयिताव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः।।[14] 3/55

इसके अतिरिक्त स्त्रियां सम्मानित होती है चाहे वह अपनी स्त्री हो अथवा परस्त्री ही क्यों न हो। इसलिए कहा गया है कि दूसरे की स्त्री से बात करते समय या सुन्दरी या बहन कहकर सम्भाषण करना चाहिए।

परपत्नी तु या स्त्री, स्यादसम्बन्धा या योनितः
तां ब्रूयाद्भवतीत्येवं सुभगे भगिनीति च।।[15]2/129

मनुस्मृति में उक्त यह स्त्री सम्मान युक्त बातें आज के वर्तमान युग में भी उतनी ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितनी की उस समय थी। आज के समाज में घरेलू हिंसा हमें हमारे शास्त्रों से अनवगत होने का परिचय देता है। समाज में आज भी स्त्री का प्रसन्न रखा जाता है तथा उसका सम्मान किया जाता है तो वह घर, समाज निश्चित रूप से सभ्य, समाज की श्रेणी प्राप्त करेगा।

निष्कर्ष : –

अन्ततोगत्वा निष्कर्ष रूप में यह कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी कि हमारे प्राचीन ग्रन्थों व शास्त्रों में सामाजिक न्याय की संकल्पना के विभिन्न पहलू प्रचूर मात्रा में उपलब्ध होते हैं। जरूरत केवल इस बात की है कि उन सामाजिक न्याय के पक्षों को आज के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में हम किस प्रकार प्रासंगिक बना सकते हैं। हम किस प्रकार हमारे प्राचीन शास्त्रीय परम्पराओं को वर्तमान समय में

उपयोगी बना सकते है। यदि इन संकल्पनाओं के क्रियान्विति हमारे वर्तमान जीवन के नियमों में दिखायी दे तो निश्चित रूप से हमारा राष्ट्र, हमारा समाज एक उन्नत, समृद्ध, सशक्त देश के रूप में विद्यमान होगा।

सन्दर्भग्रन्थ सूची : –

1. अथर्ववेदः (शान्तिपाठः)
2. शतपथ–ब्राह्मण
3. ऋग्वेदः
4. आपस्तम्बधर्मसूत्रम्
5. विष्णुधर्मसूत्रम्
6. गौतमधर्मसूत्रम्
7. विष्णुधर्मसूत्रम्
8. मनुस्मृतिः
9. ऋग्वेदः (10 / 90 / 12)
10. मनुस्मृतिः (2 / 56–57)
11. मनुस्मृतिः 4 / 152
12. मनुस्मृतिः
13. मनुस्मृतिः
14. मनुस्मृतिः 3 / 55
15. मनुस्मृतिः 2 / 129

अन्य सन्दर्भग्रन्थ सूची : –

1. शर्मा सुधा, धर्मसूत्रों में राजधर्म एवं न्याय व्यवस्था, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, प्रथम संस्करण, 2009
2. कश्यप, शशि, धर्मशास्त्रों में न्याय व्यवस्था का स्वरूप, न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन प्रथम संस्करण, 2001
3. Ghosh, Subhara, The Social Philsophy of Manu, New Bhartiya Book Corporation First Edition, 2002
4. Internet - Wikiepedia समाज व सामाजिक न्याय का परिचय।